श्रीहयग्रीवाचार्यविरचितः

।। जटापटलः ।।

श्री दयाशङ्करव्यावहारिकविरचितया
दीपिकाख्यटीकया सहितः

सम्पादकः
डॉ० गयाचरण त्रिपाठी
प्राचार्यः

श्रीहयग्रीवाचार्यविरचितः

।। जटापटलः ।।

श्री दयाशङ्करव्यावहारिकविरचितया
दीपिकाख्यटीकया सहितः

सम्पादकः
डॉ० गयाचरण त्रिपाठी
प्राचार्यः
गङ्गानाथझा–केन्द्रीय–संस्कृत–विद्यापीठस्य
प्रयागस्थस्य

प्रकाशकः

डॉ० गयाचरण त्रिपाठी

प्राचार्यः

गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्

चन्द्रशेखर आजाद पार्क

इलाहाबाद-२

मूल्यम्

मुद्रकः

शाकुन्तल आफसेट

३४, बलरामपुर हाउस

इलाहाबाद-२

राष्ट्रिसंस्कृतसंस्थानम्
(केन्द्रीयमानवसंसाधनविकासमन्त्रालयस्याङ्गभूतम्)
नवदेहली

गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठग्रन्थमाला
प्रधानसम्पादकः
डॉ० गयाचरण त्रिपाठी



ऊनपञ्चाशत्तमं प्रसूनम्

श्रीहयग्रीवाचार्यविरचितः

।। जटापटलः ।।

श्री दयाशङ्करव्यावहारिकविरचितया
दीपिकाख्यटीकया सहितः
सम्पादकः
डॉ० गयाचरण त्रिपाठी
प्राचार्यः

गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्
चन्द्रशेखर आजाद पार्क
इलाहाबाद-२११००२
२००१

Rashtriya Sanskrit Sansthan
(Under the auspices of the Ministry of Human
Resources Development, Govt. of India
New Delhi

Ganganatha Jha
Kendriya Sanskrit Vidyapitha
Text Series

General Editor
Dr. G. C. Tripathi

No. 49

JAṬĀPAṬALAḤ

by

Hayagrīva with the Commentary of
Dayaśaṅkara named Dīpikā

Edited by
Dr. Gaya Charan Tripathi
Principal



G. N. Jha Kendriya Sanskrit
Vidyapeetha, Allahabad
ALLAHABAD
2001

प्राक्कथन

ऋग्वेद के मूल पाठ की शुद्धता एवं सुरक्षा को सुनिश्चित रखने के लिये शिक्षा ग्रन्थों एवं प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रन्थों की भी रचना हुई है जो वैदिक पाठ को विभिन्न प्रकार से उच्चारित करके उसमें प्रयुक्त पदों के मूल स्वरूप एवं उनके मूल स्वरों को सुरक्षित रखने की दृष्टि से बनाए गये हैं। ऐसे ग्रन्थों को प्राय: 'विकृतिलक्षणग्रन्थ' की संज्ञा दी जाती है। 'विकृति' शब्द यहाँ पर संहिता में निर्धारित पाठक्रम के परिवर्तित रूप को इंगित करता है, जबकि संहिता पाठ को 'प्रकृतिपाठ' कहते हैं। वस्तुत: पकृतिपाठ दो और हैं –पद पाठ एवं क्रम पाठ। पदपाठ में जहाँ संहिता में प्रयुक्त प्रत्येक पद को पृथक् करके उसे उसके मूल स्वर के साथ रखा जाता है, वहीं क्रम पाठ में संधियों को तोड़ कर पदों को अपने मूल रूप में किन्तु क्रमशः अन्य पदों के साथ रखा जाता है, अर्थात् इस पाठ में पूर्व पद का स्वर अगले पद के स्वर को प्रभावित करता है, जबकि पदपाठ में ऐसा नहीं होता और प्रत्येक पद पूर्ण स्वतन्त्र रहता है। विकृतिपाठों में संहिता के कुछ पदों को उठा कर उनको सीधे तथा उल्टे दोनों क्रमों में कहा जाता है, अत: यह विकारी पाठ है। ऐसे विकारी पाठ आठ हैं – जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ तथा घन। इनमें जटा सबसे प्रारम्भिक विकृति है और इसमें संहितागत मन्त्रों के एक पाद को इकाई मान कर आदि के दो पदों से प्रारंभ करते हुए प्रथम बार उनको संहिता क्रम में, द्वितीय बार उनका स्थान बदल कर (ख–क) और तृतीय बाद पुन: संहिता क्रम (क–ख) में बोला जाता है।

जटापाठ के क्रमों के निम्न पारिभाषिक नाम हैं–

अनुक्रम	क–ख
उत्क्रम	ख–ख
व्युत्क्रम	ख–क
अभिक्रम	क–क
संक्रम	क–ख–ख–ग आदि

अनुक्रम में प्रातिशाख्यका वचन प्रमाण रहता है और अपनी शाखा के प्रातिशाख्य के नियम एवं स्वर लागू होते हैं। किन्तु व्युत्क्रम में अर्थात् पदों का क्रम उलट जाने पर व्याकरण का प्राधान्य हो जाता है। संधियां व्याकरण के अनुसार चलती हैं और अब द्वितीय पद का स्वर आगे आने वाले प्रथम पद के स्वर को प्रभावित करता है (जबकि अनुक्रम में पूर्ववर्ती पद के स्वर आगामी पद के स्वर को प्रभावित करते हें)। 'प्रभावित करने' से यहाँ तात्पर्य केवल अनुदात्त एवं स्वरित से है, उदात्त में (एवं जात्य स्वरित में) तो कभी कोई परिवर्तन होता नहीं। ऋग्वेद की प्रथम ऋचा के प्रथम पाद का जटापाठ निम्न प्रकार से होगा–

संहिता–	अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं.....
पदपाठ–	अ॒ग्निम्। ई॒ळे॒। पु॒रः॒ऽहि॑तम्।
क्रमपाठ–	अ॒ग्निमी॑ळे। ई॒ळे॒ पु॒रोहि॑तम्।
जटापाठ–	अ॒ग्निमी॑ळे ई॒ळे॒ऽग्निम॒ग्निमी॑ळे।
	ई॒ळे॒ पु॒रोहि॑तं पु॒रोहि॑तमी॒ळे॒ ई॒ळे॒ पु॒रोहि॑तम्।
	पु॒रोहि॑त॒मिति॑ पु॒रः॒ऽहि॑तम्।

बालों की अलबेट से जटा का निर्माण होता है। अनुक्रम एवं व्युत्क्रम से इस पाठ की संहति होने के कारण इसकी जटा संज्ञा रखी गई है आगे की सभी विकृतियों यथा माला, शिखा, रेखा आदि का भी मूल आधार जटा ही है।

जटा पाठ के ग्रन्थ दो प्रमुख आचार्यों के मतों पर आधारित हैं – व्याडि (या व्याळि) एवं हयग्रीव। इनमें से व्याडि प्राचीनतर आचार्य हैं। हयग्रीवाचार्य ने उनके मत का उल्लेख करते हुए कहीं कहीं उनसे असहमति व्यक्त की है। मुख्य असहमति मध्यमावृत्ति अर्थात् व्युत्क्रम या विलोम को लेकर है। विशेषत: जब संहिता के मूल पाठ में ऋग्वैदिक भाषा के कुछ विशिष्ट नियमों के कारण ध्वनि परिवर्तन हुआ हो। ऐसे में हयग्रीव भाषागत शुद्ध पाठ को व्युत्क्रम में रखने के पक्षपाती हैं जबकि व्याडि संहितागत मूल पाठ की ही आवृत्ति को ठीक मानते हैं। हयग्रीव के मत को हमारे टीकाकार श्री दयाशंकर ने अपनी इस 'दीपिका' टीका में बहुत सरल भाषा में सतर्क और सोदाहरण विवेचित किया है।

वस्तुतः श्री दयाशंकर की यह 'दीपिका' टीका बहुत ही सुबोध किन्तु साथ ही वैदुष्यपूर्ण है। दयाशंकर ने व्याडि के जटापटल का एवं उवट के भाष्य सहित ऋक्प्रातिशाख्य का तो गहन अध्ययन किया ही था साथ ही अन्य वैदिक ग्रन्थों का भी उन्हें अच्छा परिज्ञान था। परम्परागत वैदिक तो वे थे ही। दयाशंकर के पिता का नाम धरणीधर व्यावहारिक था और इस टीका की रचना विक्रम संवत् १८०१ या सन् १७४४ ई० में वाराणसी में हुई थी। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक भी हमारी वैदिक परम्परा कितनी पुष्ट एवं सजीव थी, इसका यह एक उत्तम निदर्शन है।

टीका का सम्पादन मैंने दो हस्तलेखों के आधार पर दिया है प्रथम प्रो०क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के संकलन में थी और उन्होंने प्रयाग के दशाश्वमेधघाट (दारागंज) पर रहने वाले श्री सखाराम भट्ट वेरूळकर से प्राप्त की थी। इसमें २१ पत्र (या ४१ पृष्ठ) हैं इसके लिपिकर्ता एक से अधिक हैं अत: प्रति–पृष्ठ पंक्तियों तथा अक्षरों की संख्या भी भिन्न है। द्वितीय मातृका वाराणसी के सरस्वती भवन पुस्तकालय की है (आगम संख्या २१०८) और शक संवत् १७१४ या सन् १७९२ में किसी बैजनाथ द्वारा लिपिबद्ध की गई थी। इस ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य मैंने सितम्बर १९८३ में प्रारम्भ किया था बाद में पता चला कि ग्रन्थ प्रो० जी० वी० देवस्थली द्वारा सम्पादित 'वेदविकृतिलक्षणसंग्रह' नामक ग्रन्थ में भण्डारकर शोध संस्थान से प्रकाशित हो गया है। इससे यह अभी तक पड़ा रहा, किन्तु क्योंकि इसके सम्पादन में दो बिल्कुल नई मातृकाओं का उपयोग किया गया है जो प्रो० अभ्यंकर या प्रो० देवस्थली को प्राप्त नहीं थीं (उन्होंने तीन अन्य मातृकाओं का उपयोग किया है) अत: मैंने इसका प्रकाशन अन्तत: उचित समझाा। जिसे पूना से प्रकाशित समस्त बारह ग्रन्थों का संग्रह नहीं चाहिये, उनके लिये भी इस लघुकथा ग्रन्थ की पृथक् उपलब्ध सुविधाजनक होगी, इत्यलम्।

पाद टिप्पणियों में A से इलाहाबाद (Allahabad) और B से वाराणसी (Benaras) मातृका का उल्लेख है।

विद्वज्जनानुचर

गयाचरण त्रिपाठी

प्रयाग

१५ मार्च, २००१

अथ

श्रीहयग्रीवाचार्यविरचितः

।। जटापटलः ।।

श्री दयाशङ्करव्यावहारिकविरचितया दीपिकाख्यटीकया सहितः

श्री गणेशाय नमः। श्री परामबायै नमः[१]।

[२]अपारसंसारसमुद्रमग्नस्वभक्तजन्तूद्धरणे[३] दयालुः।
धृतैकदीक्षः पुरतस्तनोतु शिवः शिवं मे शिवया समेतः।।

यस्यानुग्रहवशतोऽच्युतादिदेवाः
संसिद्धिं विबुधवरोचितां प्रयाताः।
भारत्याः कुवलयपत्रलोचनाया
भूत्यै स प्रभवतु मे कृपाकटाक्षः।।

नत्वा भाष्यकृतः पूर्वां[४]जटापटलदीपिकाम्।
तनोमि विदुषां प्रीत्यै हयग्रीवमतानुगाम्।।

---

१. एतद्वाक्यं B पुस्तके नास्ति।

२. B पुस्तकं उकारेणेमं श्लोकं प्रारभते।

३. जंतूत्धरणे B

४. पूर्वां A

इह कि भगवान् परमकारुणिको हयग्रीवाचार्यस्त्रैवर्णिकानां यथार्थवर्णस्वरपरिज्ञानपूर्वकजटाध्ययनस्य कीर्तिप्राप्तिरूपदृष्टप्रयोजन-सिद्धिपूर्वकब्रह्मपदप्राप्तिरूपं मुख्यं फलं विवक्षुस्तस्य जटाया: स्वरूपज्ञानाधीनत्वाद् वर्णस्वरपरिज्ञानाधीनत्वाच्चादौ जटास्वरूपमाह-

क्रमे यथोक्ते पदजातमेव
द्विरभ्यसेदुत्तरपूर्वमेवम्।
अभ्यस्य पूर्वं च तथोत्तरे पदे-
ऽवसानमेवं हि जटाभिधीयते।।१।।

क्रमो द्वाभ्यामभिक्रम्येत्याद्युक्तप्रकारे क्रमे पदजातं पदसमूहं सर्वाणि पदानीति यावत्। द्विरभ्यसेत् वारद्वयं पुनरुच्चरेदित्यर्थ:। उक्ते क्रमे पुन: द्विरभ्यासकथनात् सर्वेषां पदानामार्थिकी त्रिरावृत्ति: सिद्धा भवति। तत्र यथेच्छं द्विरभ्यासे प्राप्ते आह-उत्तरपूर्वमित्यादि।। पूर्वमादावुत्तरं पदमभ्यस्य तत: पूर्वं प्रथमं पदमभ्यस्य चकारात् प्रथमं पदमेव पुनरभ्यस्य उत्तरे पदेऽवस्येत्। एवंप्रकारेण अध्ययनस्य 'जटा' इत्युच्यते पूर्वाचार्यै:। हीत्यवधारणे। तेन सर्वेषां मतेऽयमेव जटाप्रकारो नान्यमि[५]त्यर्थ: तथा च व्यालि: -

अनुलोमविलोमाभ्यां त्रिवारं हि पठेत्क्रमम् इति। हि शब्दात् पुनरनुलोमेन तृतीयावृत्ति:। उदाहरणम् -

५. A पुस्तके 'मि' इत्यक्षरं त्रुटितम्।

(पर्जन्याय प्र गायत, ऋ० ७/१०२/१)

पर्जन्याय प्र प्र पर्जन्याय प्र।

प्रगायत गायत प्र प्रगायत।

अत्रोत्तरपदेनान्तिमं पदं ग्राह्यम्। पूर्वमित्यत्र एकत्वमविवक्षितम्। तेन अन्तिमात् पूर्वाणि यावन्ति पदानि तेषां द्विरभ्यासे प्राप्ते 'मध्यं त्वनभ्यस्ये'ति मध्यमपदस्य वक्ष्यमाणाभ्यासप्रतिषेधः स्वरसतः संगच्छते, अन्यथा मध्यमपदस्य पूर्वपदत्वाभावाद् अभ्यासप्रतिषेधस्य वैयर्थ्यं स्यात्। यदि च मध्यमपदस्थोत्तरस्मात् पूर्वत्वमुच्येत तदा तत्पूर्वस्याभ्यासो न स्यात्। तस्मादुक्तरीत्यैव निर्वाहः। अत्र यथोक्ते क्रमे द्विरभ्यासकथनात् द्विरभ्यासातिरिक्तं सर्वं क्रमोक्तं लक्षणमेव वेदितव्यम्। तत्रापि मध्येऽवसानाभावाद् अवसानोत्तरमेव [6]परिग्रहादि भवति। वर्णानां स्वराणां चान्यथोच्चारणे तु इष्टफलाजनकत्वम्[7] अनिष्टजनकत्वं च स्मर्यते—

मन्त्रो हीनः[8] स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

---

६. A पुस्तकेऽत्र 'प' इत्यक्षरं त्रुटितं विद्यते।

७. जनिकत्वम् B

८. हीन A

लक्षणज्ञो हि मन्त्राणां सकलं भद्रमश्नुते,

इति स्मृतेश्च। तस्माद् यथोक्तमेवोच्चारणीयम्।।

इदानीम् 'एकवर्णमनोकारा'मित्यादि त्रिक्रमे यथापूर्वमेवाभ्यासे प्राप्ते आह–

त्रिभिः पदैः स्यात् क्रमको हि यत्र
मध्यं त्वनभ्यस्य च पूर्वमभ्यसेत्
अर्थाच्च मध्यस्य भवेद् द्विरुक्तिता
संदेहदं त्विङ्गनेन प्रदर्शयेत् ।।२।।

यत्र त्रिभिः पदैः क्रमणं भवति तत्र तत्संधानद्वारा प्रथमं पदं द्विरभ्यस्य पुनरपि मध्यमपदस्य संधानद्वारैव उत्तरे पदेऽवस्येत्। एवं च मध्यमपदस्य आर्थिको द्विरभ्यासो, न तु साक्षात्। तथा च व्यालिः –

चतुःक्रम–त्रिक्रमेषु तथा पञ्चक्रमेषु च।
आद्यन्ताभ्यां त्रिवृन्मध्यं ब्रूयात् क्रमविपर्ययैः ।। इति ।।

क्रमौ च विपर्ययश्चेति विग्रहः। अनुलोमविलोमसंक्रमैरित्यर्थः। उदाहरणम्–

म॒न्द्रमा वरे॑ण्यं॒ वरे॑ण्य॒मा म॒न्द्रं म॒न्द्रमा वरे॑ण्यम्। आ वरे॑ण्यम्।

यथा वा -

आ॒सुष्मा॑णो नः स्मा॒ स्वा३॑सुष्मा॑णः।
स्मेति॑ स्म।।

(ऋ० ६/४४/१८)

ननु यत्र मध्यं पदं पदसंहितयोर्विभिन्नं तत्र द्वितीयतृतीयाभ्यासे संहितावद् उच्चारणम् उत पदवद् इत्यत्राह सन्देहदमिति। संदेहभूतं पदं वेष्टनेनैव प्रदर्शयेत्। अत्र परिग्रहे पदवदुच्चारणं प्राप्तम् अनूद्य विलोमानुलोमाभ्यासे संहितावदुच्चारणं विधीयते। तेन विलोमानुलोमाभ्यासे संहितावदुच्चार्य वेष्टने पदवदुच्चारयेद् इत्यर्थः। उदाहरणम्-

चि॒त्कंभ॑नेन॒ स्कभी॑या॒न्स्कभी॑या॒न् कंभ॑नेन। चिच्चि॒त् कंभ॑नेन॒ स्कभी॑यान्।।

स्कंभ॑ने॒नेति॒ स्कंभ॑नेन। स्कभी॑या॒निति॒ स्कभी॑यान्।।

(ऋ० १०/१११/५)

क्रम एव क्रमकः । स्वार्थे कः ।।२।।

अभिक्रमे क्रमशास्त्रं प्रधानं
स्याद् व्युत्क्रमे व्याकरणं प्रधानम्।
उक्त:क्रमे व्युत्क्रमणे विशेष:
स्वरा: प्रकाराद्वितयेऽप्यभिन्ना: ।।३।।

अभिक्रमे द्वितीयानुलोमाभ्यासे [९]इत्यर्थ:। प्रथमानुलोमाभ्यासे तु 'क्रमे यथोक्ते' इत्यनेनैव सिद्धत्वात्। क्रमशास्त्रं क्रमोक्तशास्त्रं समानाक्षरे सस्थान इत्यादि। तस्य [१०]प्राधान्यम्। व्युत्क्रमे विलोमे व्याकरणस्य प्राधान्यम् न तु क्रमशास्त्रस्य। अयमेवानुलोमविलोमयो: संधौ विशेष उक्तो जटाविद्‌भिर्नान्य:। स्वरा उदात्तादय: ते तु प्रकारद्वयेऽप्यभिक्रमे व्युत्क्रमेऽपि च अभिन्ना एव, न तु वर्णसंधिभेदवत् स्वराणामपि भिन्नत्वमित्यर्थ:। उदाहरणम्-

अ॒स्माँ अंस्मा॒ इदिद॒स्माँ अंस्मान॒स्माँ अंस्माँ इत्।
अ॒स्मानंस्मा॒नित्यस्मान् ऽअंस्मान्।
इदुदुदिदिदुत्। उदंवा॒वोदुदंव। अ॒वेत्यंव।।

यथा वा -

त्वं ताँस्ताँस्त्वं त्वं तान्। ताँ इन्द्र इन्द्र॒ ताँस्ताँ इन्द्र।
इ॒न्द्रो॒भयांनु॒भयांनिन्द्रेन्द्रो॒भयान्। उ॒भयाँ अमित्रांन॒मित्रांनुभयांनुभयाँ अ॒मित्रान्।

---

९. सत्यर्थ: A, कीटदष्टत्वाद् 'इ' वर्ण: त्रुटित:B
१०. प्रधान्यम् B

अत्रानुलोमे क्रमशास्त्रस्य प्राधान्यात् प्रथमोदाहरणे आकारोपधस्य पद्यान्तस्यापद्यान्तस्य च नकारस्य स्वरे परे लोपः। नकारस्थानात् पूर्वस्वरस्य च अनुनासिक्यम्। तथा च प्रातिशाख्यम्–

नकार आकारोपधः पद्यान्तोऽपि स्वरोदयः।

लुप्यत इति।

नकारस्य लोपरेफोष्मभावे **'पूर्वस्तत्स्थानादनुनासिकः स्वरः।'**

(ऋ०प्रा० ४/८०)

इति च।

विलोमे तु व्याकरणस्य प्रबलत्वात् स्वरे परे नकारश्रवणम्।

द्वितीयोदाहरणे विलोमे अम्परे छवि[११] नस्य रुत्वे कृते (पा० ८/३/७) तस्य 'खरवसानयो'रिति (पा० ८/३/१५) विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' (पा० ८/३/३४) इति सः। नकारस्थानात् पूर्वस्वरस्य अनुनासिक्यम् (पा० ८/३/२)। वक्ष्यमाणरीत्या तस्मात्परोऽनुस्वारागमस्तु (पा० ८/३/४) पाक्षिको[१२] न भवति। अत्र 'उभयथर्क्षिवति' (पा० ८/३/८) पाक्षिको रुत्वाभावोऽपि यथा न भवति तथा अग्रे प्रतिपादयिष्यते।

---

११. वक्षभागं AB

१२. पाक्षितो A

विलोमे चेत् क्रमशास्त्रस्य प्राधान्यं स्यात् तर्हि *अस्मानस्मानित्यत्र* उक्तरीत्या नकारश्रवणं न स्यात्। त्वं ताँस् ताँस् त्वं त्वं तान् इत्यत्र सकारश्रवणं च न स्यात् 'चरति-चक्र......' इत्यादौ त्वं-तान्पदयोर्ग्रहणाभावात्। एवं पशून्ताँश्चक्र (ऋ० १०/९०/८) इत्याद्यूह्यम्।

द्वितीयानुलोमाभ्यासे व्याकरणस्य प्राधान्ये तु *अस्माँ अस्माँ* इत्यत्र नकारश्रवणं, *पशून्तान्* इत्यत्र सकारश्रवणं च स्यात् ।।३।।

इदानीं चतु:क्रमादौ जटाप्रकारमाह-

चतु:क्रमे त्रिक्रमवत्परीत्य
संदर्शयेन्मध्यपदस्वरूपम्।
तथेङ्गयेत् पदजातं विकारि
व्यावर्तने संहितावत्प्रगृह्य।।४।।

चतु:क्रम इति पञ्चक्रमस्याप्युपलक्षणम्। तेन चतु:क्रमे पञ्चक्रमे च त्रिक्रमवद् अनुलोमविलोमसंक्रमैर्जटां पठेत्। मध्यपदानां स्वरूपं तु वेष्टनेन प्रदर्शयेत्।

सर्वोऽप्ययं त्रिभि: क्रमै'रित्यस्यैव प्रपञ्च:। पृथगुक्तिस्तु चतु:क्रमपञ्चक्रम-पदानामल्पत्वात् संदेहव्युदासार्था। तथा च व्याळि: -

चतु:क्रमत्रिक्रमेषु तथा पञ्चक्रमेषु च।

आद्यन्ताभ्यां त्रिवृन्मध्यं ब्रूयात्क्रमविपर्ययैः।। इति।

तथा अन्यान्यपि विकारीणि पदानि विलोमे संहितावत् प्रगृह्य संहितावद् उच्चार्य इङ्गयेत् येन विकृतपदस्वरूपप्रदर्शनं स्यात्। उदाहरणम्–

त्रिक्रमः –

श्वेत्यागादगादाश्वेत्या [१३]श्वेत्यागात्।। आगात्।

चतुःक्रमः –

अगादारैगु कृष्णा कृष्णो आरैगगादगादारैगु कृष्णा।
अरैगित्यरैक् ।। ॐ इत्यूं।

कृष्णा सदनानि सदनानि कृष्णा कृष्णा सदनानि।।

(ऋ० १/११३/२)

पञ्चक्रमोदाहरणम् –

निरुस्वसारमस्कृतोषसमुषसमस्कृतस्वसारमु निर्निरुस्वसारमस्कृतोषसम्।

ॐ इत्यूं, स्वसारमिति स्वसारम्। अकृतेत्यकृत।

(ऋ० १०/१२७/३)

१३. A drops this (the second) श्वेत्या

विकृतपदोदाहरणम्–

पूर्वहूंतिं वावृधध्यै वावृधध्यै पूर्वहूंतिं पूर्वहूंतिं वावृधध्यै।

पूर्वहूंतिमिति पूर्वऽहूंतिम्।

वावृधध्यां उषासानक्ता॒षासानक्ता वावृधध्यै वावृधध्यां उषासानक्ता।

वावृधध्या इति ववृधध्यै।

उषासानक्ता पुरुधा पुरुधोषासानक्तोषासानक्ता पुरुधा।

उषसानक्तेत्युषसानक्ता।

अत्रारैक्, अकृत, ववृधध्यै, उषासानक्तेतिक्रमेण चत्वारि पदानि दीर्घादिसकारसहितवकारोत्तरदीर्घदीर्घ[१४]मध्यानि विलोमेन पठनीयानि। वेष्टने एवं ह्रस्वादिसकाररहितवकारोत्तरह्रस्वह्रस्वमध्यानि।

अत्र व्यालिना सह विरोध:। तन्मतेऽन्त:पदविकारिपदस्य व्यावर्तनेऽपि पदवदुच्चारणम्, न तु संहितावत्। तथा च श्लोक :–

विलोमे पदवत्संधिरनुलोमे यथाक्रमम्। इति

---

१४. B प्रतौ एकमेव दीर्घं पदं विद्यते।

अयमाशय:

षत्वं णत्वं च दीर्घत्वं क्रमसंधौ यथोच्यते।
विलोमे तन्न[१५] कर्त्तव्यम्......।।

तन्मतानुसारीणि उदाहरणानि –

१.(षत्वं) सुषुमायातं यातमासुसुम सुषुमायातम्।
सुसुमेति सुसुम।।

२.(णत्वं) प्रविद्वान् पितृयाणं पितृयानं प्रविद्वान्प्रविद्वान्पितृयाणम्।
प्रविद्वानिति प्रऽविद्वान्।।
पितृयाणं द्युमद् द्युमत्पितृयानं पितृयाणं द्युमत्।
पितृयानमिति पितृऽयानम्।।

३.(दीर्घत्वं) ददाति दूणाशा दुर्नशा ददाति ददाति दूणाशा।
दूणाशेयमियं दुर्नशा दूणाशेयं।।
दुर्नशेति दुऽनशा।।

१५. तं न, A

अत्र व्याळिमते विलोमे एवं पदस्वरूपे ज्ञाते वेष्टनं तु केवलमदृष्टार्थमेव। स्वमते विलोमे पदस्वरूपज्ञानाभावात् वेष्टनस्य पदस्वरूपप्रदर्शनरूपदृष्टार्थतेति भाव:। युक्तं चैतत्। दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनेति न्यायात्। अत एव स्वयमपि वक्ष्यति–

स्यादन्यथाविग्रहणप्रयोजनं

किं वाभिजाते पदनिश्चये तदा। इति।।

इदानि क्रमाध्ययनस्य स्वरप्रयुक्तदृष्टप्रयोजनकथनपूर्वकं जटाध्ययनतस्तद्दृष्टं प्रयोजनमाह–

ऋते क्रमं द्वैपदसंहितास्वर–

ज्ञानं न चेति क्रमकप्रयोजनम्।

तथान्यत: पदसंधिर्विशेषत:

स्वराभिधाने हि जटा प्रयोजिका।।५।।

क्रमाध्ययनं विनाऽनुलोमद्वैपदसंहिता स्वरज्ञानं न भवति।। द्विपदमेव द्वैपदं तस्य या संहिता तस्या: स्वरस्तस्य ज्ञानम्। अनुलोमं द्वैपदसंहितास्वरज्ञानमिति यावत्। इदं क्रमाध्ययनस्य दृष्टं प्रयोजनम्। तथाऽन्यतोऽन्यस्मिन्नित्यर्थ:। सप्तम्यास्तसिल्। अनुलोमादन्यस्मिन् व्युत्क्रमे पदसंधेर्विशेषत: स्वराभिधाने स्वरकथने जटा प्रयोजिका। जटाध्ययनं बिना व्युत्क्रपदसंधिस्वरज्ञानं न भवतीत्यर्थ:।

अयं भाव:। केवलार्षसंहितास्वरज्ञानापेक्षया क्रमसंहितायामधिकस्वरज्ञानं भवति। जटासंहितायां व्युत्क्रमपदयोजनाधिक्येन क्रमसंहितातोऽप्यधिकं स्वरज्ञानं भवतीति। अत्र ज्ञानशब्देन परिस्फूर्त्तिरुच्यते, न तु लक्षणशास्त्रजन्यं ज्ञानम्। तेन क्रमाद्यध्ययनेन लक्षणशास्त्रमविदुषामपि वैदिकानां स्वरपरिस्फूर्तिर्भवतीति भाव:। क्रमक इत्यत्र स्वार्थे क:। उदाहरणम्–

एतायामोप (ऋ० १/३३/१)

आर्षसंहितायामाद्यौ द्वौ स्वरौ उदात्तौ। तृतीयोऽनुदात्त:। चतुर्थ उदात्त:। पञ्चम: स्वरित: इति। क्रमसंहितायां त्वार्षसंहितापेक्षयाधिका: स्वरा:। यथा–

एत इतायाम। अयामोप।

जटासंहितायां त्वितोऽप्यधिका:। यथा–

एतेतैत[१६] इतायामायामेतेतायाम। अयामोपोपायामायामोप।

एतेषां स्वराणां लक्षणं 'तूदात्तवत्येकीभाव' इत्यादिप्रातिशाख्योक्तं वेदितव्यम्। विस्तरभीतेरत्र न लिख्यते।।५।।

ननु क्रमाद्यध्यनेन स्वरपरिस्फूर्त्तौ सत्यामपि स्वराध्ययने कदाचिदध्येतृणां मिथो विसंवादे तु लक्षणशास्त्रमेव संदेहनिवर्तकं न

१६. एतेत A & B

त्वध्ययनम्। तद् द्विविधम्। एकं पार्षदमपरं व्याकरणम्। तत्र पार्षदं केवलस्वरसंधिनिर्णयकम्। व्याकरणं तु स्वरसंधिनिर्णायकं च। तयोर्मध्येऽत्र किं ग्राह्यमित्यत आह-

क्रमस्वरेणैव जटासु भूयते
स भज्यतेऽतोऽत्र न तिङ्ङतिङ्विधि:।
स्वरा विधेया हि यथाश्रुतै: पदै:
[१७]पदेष्वथामन्त्रितजादिकेष्वपि।।६।।

क्रमस्वर: पार्षदोक्तस्वर:[१८]। तेनैव जटासु भवनम्। स एव जटायां भवतीत्यर्थ:। स एव जटा विद्वभिर्भज्यते सेव्यते अंगीक्रियत इति यावत्। तत्र पदानां[१९] तत्स्वराणां च आम्नायैकगम्यत्वेन[२०] तदाकांक्षाविरहात् संहितास्वरनिर्णायकशास्त्राकांक्षायां पार्षदशास्त्रमेवाङ्गीकृतवन्त आचार्या इति भाव:।

ननु पदज्ञानसाधनीभूतयोर्निरुक्तव्याकरणस्मृत्यो: सत्त्वे आम्नायपाठोऽकिञ्चित्कर:।। अस्मदाद्यध्ययनापेक्षया[२१]

---

१७. पदैष्व A

१८. पार्षदं प्रातिशाख्यं, पार्षदोक्तस्वर: - तत्संबद्धप्रातिशाख्योक्तस्वर:। (संपादक:)

१९. पदांतां, A

२०. तेन, B

२१. पेक्षा, B

सर्वदर्शिनोर्यास्कपाणिन्योर्मुनयोरुक्तेर्बलवत्त्वस्य सर्वजनसिद्धत्वात्। तथा हि निरुक्ते तावत् 'अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते' इत्यारभ्य यास्केनावगृह्यानवगृह्यभेदो विचारितः। तत्रावसायेति पदं सावग्रहं प्रथमाष्टके 'वि॒मुच्या॒ वयो॑ ऽव॒साया॒श्वानि॑'त्यत्र (ऋ० १/१०४/१) तथाष्टमाष्टके 'ऽव॒साय॑प॒द्वते॑ रुद्रमृ॒ळे' त्यत्र (ऋ० १०/१६९/१) निरवग्रह[22]मवसायेति पदम्। 'स्यतिरुपसृष्टो विमोचने तस्माद् अवगृह्णन्ति। अवतेर्गत्यर्थस्यासो नामकरणस्तस्मान्नावगृह्णन्ति' (नि० १/६) इत्यवग्रहानवग्रहभेदो दर्शितः। तथा- *व॒ने न वा॒यो न्य॑धायि चा॒कन्* (ऋ० १०/२९/१)। ''वन इव वायो वेः पुत्रश्चाकन्निति वा कामयमानः इति वा, वेति च[23] य इति च, चकार शाकल्यः'' (नि० ६/५) इत्यत्र वाय इति 'वेः पुत्रो वाय' इति एकमेव पदमुक्त्वा पश्चाच्छाकल्यमते 'वेति च य इति च' पदद्वयमुक्तवान्।। न ह्ययं केवल पाठमात्रेण भेदो ज्ञातुं शक्यः। सति संदेहे विनिगमनकाभावात्। तस्मात् सिद्धं निरुक्तमते पदज्ञानसाधनत्वम्। व्याकरणस्य तु 'सुप्तिङन्तं पदम्' (पा० १/४/१४) इत्यादिसूत्रैः पदज्ञानसाधनत्वं स्फुटमेवेति।।

अत्रोच्यते। अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यत इत्यस्य अयमर्थः। इदमन्तरेण निरुक्तशास्त्रं विना पदविभागो न विद्यते, नास्ति। सन्नपि पद-विभागोऽसन्निव भवति। ज्ञातेऽपि पदविभागे निरुक्तं विनाऽर्थो न ज्ञायत[24] इति भावः। अत एव तस्मान्नावगृह्णन्ति

---

२२. A- पुस्तके र-वर्णो भ्रष्टः (निवग्रहं)

२३. B- पुस्तके च-वर्णो नास्ति

२४. AB जायत

तस्मादवगृह्णन्तीत्यत्र 'पदकारा' इति वाक्यशेषेण चिरन्तनसिद्धः पदपाठ इति तेनैव सूचितम्। अन्यथा 'तस्मान्नावगृह्यं तस्मादवगृह्य' मित्येवावक्ष्यत्।।

किं च। अत्र निरुक्तिरहितेषु शुनःशेपादिपदेषु अन्योन्याश्रयत्वं च। पदज्ञाने अर्थज्ञानस्य कारणत्वम्, अर्थज्ञाने पदज्ञानस्य कारणत्वम्। '***शुनश्चिच्छेप***'*मित्यत्र* (ऋ० ५/२/७) पदच्छेदे कर्त्तव्ये 'शुनःशेप' –पदार्थे ज्ञाते एव 'शुनःशेपं। चित्।' इति पदविभागः कर्त्तुं शक्यते, नान्यथा। एवमर्थकरणे शुनःशेपमिति पदज्ञानस्य कारणत्वमिति। अयमन्योन्याश्रयो दोषो निरुक्तेन न परिहर्त्तुं शक्यः।

किं च, इन्द्रावरुण वां।। दि॒विषद्भूम्या[२५] **ददे।। सो चि॒न्नु।। सा नो॒ अव्ये परी॒तोषिञ्चत।। धनर्चम्।। व॒र्त॒नी**[२६] **रहेत्यादौ न निरुक्तेन पदनिश्चयः। अतो निरुक्तेन**[२७] **न सर्वेषां पदानां स्वरूपावगमः। किन्तु सिद्धे हि पदज्ञानेऽर्थोपयोगित्वं निरुक्तस्य। तत्सिद्धमाम्नायपाठस्यैव निर्णायकत्वं**[२८] **न निरुक्तस्य।**

एवं नापि व्याकरणस्याखिलपदेषु निर्णायकत्वं[२८], सन्दिग्धत्वात्।

---

२५. भम्या A

२६. वर्तना A

२७. निरुक्ते A

२८. 'न निरुक्तस्य......निर्णायकत्वम्' एतावान् पाठः A पुस्तके नास्ति।

तथा हि। *अस्य वासा उ अर्चिषेत्यत्र* पदे चत्वार: पक्षा: संभवन्ति।। **अस्य। वा। आसा:**[२९], इत्येक: पक्ष:।। वासा:, इत्यपर:।। **वा।, आ। असौ।** इति तृतीय:। **वै। असौ।** इति चतुर्थ:।। एवं सन्देहे वैयाकरणैरप्यत्राम्नायपाठ एवाङ्गीकर्त्तव्य:।

न चार्थज्ञानेन पदनिर्णयो भविष्यतीति वाच्यम्। पूर्वोक्तान्योन्याश्रयदोषात्। एवं *परा वीरास एतन् र्यांविध्यदिलीविशंस्ये* (ऋ० ५/६१/४) त्याद्युदाहरणेषु बहुवक्तव्येऽपि विस्तरभीतेर्विरम्यते।

तत्सिद्धं पदेष्वाम्नायपाठस्यैव निर्णायकत्वं न व्याकरणस्येति।

न त्वेवं संहितायामप्याम्नायपाठस्यैव निर्णायकत्वमस्तु, किं पार्षदग्रन्थेनेति चेत्सत्यम्। संहितायामप्याम्नायपाठ एव निर्णायकस्तथापि परमकृपालवो भगवन्त: शौनकादिमुनीशा: स्वस्वशाखागतेषु तुल्येषु पदेषु **'सो चित् स चिदि**[३०]'त्यादि नानाविधां संहितां दृष्ट्वा मन्दबुद्धीनां शिष्याणां भ्रमो मा भूदितितात्पर्येण प्रतिशाखं स्वस्य शाखाप्रयोगव्यवस्थापकं प्रतिपदं वर्णस्वरशृंखलारूपं प्रातिशाख्याख्यं ग्रन्थं कृतवन्त आसन्।। अतस्तस्य स्वत:सिद्धायां संहितायां संदेहे सति त्वत्यन्तं[३१] निवर्तकत्वं, न त्वपूर्वसन्धिविधायकत्वम्। अतएव संहिताया: प्रकृतित्वमुक्तम्-*पदप्रकृति: संहितेति*। पदानां प्रकृति:

२९. असा: A

३०. Omits 'दि' A

३१. 'अत्यन्तन्निवर्तकत्वम्' A

पदप्रकृतिरिति तत्पुरुषसमास:। अखिलपदसंधिसंदेहनिवर्तकेन शौनकेन तु पदानां प्रकृतित्वमुक्तम्–*संहिता पदप्रकृतिरिति* (ऋ०प्रा० २/१) पदानि प्रकृतिभूतानि यस्या: सा संहितेत्यर्थ:। अत उभयमपि प्रमाणम्, आर्षत्वात्। इदमेव प्रयोजनं शिक्षादिग्रन्थानामपि बोध्यम् भगवता यास्केनापि इदमेव प्रयोजनं निरुक्तस्योक्तं शास्त्रारम्भप्रयोजनाधिकारे निरुक्ते *'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुं'रित्यादिना* (नि० १/२०)।। एवं रावणादिकृत 'बैठादि[३२] ग्रन्थानामपि प्रतिवर्णं तान्त–नान्त–खण्डितपदादीनां सन्देहे सति तन्निवर्तकत्वेनाध्ययनोपयोगित्वम्। एवम् अखिल–पदसाधकस्यापि व्याकरणस्य प्रतिशाखं व्यवस्थापकत्वाभावेन नातीवाध्ययनोपयोगित्वम्। किन्तु तस्य प्रकृतिप्रत्ययविभागज्ञानद्वारा अर्थोपयोगित्वं बोध्यम्। तदलं प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तया। प्रकृतमनुसराम:।।

जटायां क्रमस्वरो भवतीत्युक्तम्। तत्र प्रथमानुलोमाभ्यासे 'क्रमे यथोक्ते' इत्यनेनैव सिद्धे, व्युत्क्रमे द्वितीयानुलोमाभ्यासे चानेन क्रमस्वरो विधीयते। अत आवृत्तित्रयेऽपि क्रमस्वर एव सिद्धो भवति। तेन पूर्वोक्तं 'स्वरा: प्रकारद्वितयेऽप्यभिन्ना' इति संगतं भवति।।

ननु पदस्वराणाम् आम्नायपाठसिद्धत्वम् पूर्वमुक्तं, तद् भवतु प्रथमानुलोमाभ्यासे। विलोमे द्वितीयानुलोमाभ्यासे तु व्याकरणसिद्धा एव स्वरा भविष्यन्तीति आशङ्क्य आह – 'अतोऽत्र न

---

३२. जटादि B

तिङ्ङतिङ्विधि' रिति।। अत्र विलोमे द्वितीयेऽभिक्रमे चेत्यर्थः। अतः पदेषु स्वराणां सिद्धत्वात् न 'तिङ्ङतिङ्' (पा० ८/१/२८) विधिः। अयमर्थः–'तिङ्ङतिङ्' इति सूत्रेण अतिङात् परस्य तिङन्तस्य अनुदात्तत्वं भवतीति विधिरत्र न भवति, स्वराणां सिद्धत्वात्। एवं संबोधनान्तपदेष्वपि यथाश्रुतैः पदैः सह क्रमस्वरा एव कर्त्तव्याः न तु[३३] 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ६/१/१९८) इत्यादिसूत्रविहितः पदेषु स्वरविकारः कार्यः। आदिशब्दाद्धातोरन्त उदात्त' (पा० ६/१/१६२) इत्यादिस्वरविषयाः केऽपि विधयो न भवन्तीति[३४] ज्ञेयम्।

विलोमे उदाहरणम्–

असि॒ ग्रामे॑षु ग्रामे॒ष्वस्यसि॒ ग्रामे॑षु, (ऋ० १/४४/१०)। अत्र अतिङन्ताद् *ग्रामेषु*–इति पदात् परस्य *अ॒सि* इतिपदस्य अनुदात्तता न भवति।

द्वितीयानुलोमाभ्यासे उदाहरणम्–

पु॒रोहि॒तोऽस्यसि॑ पु॒रोहि॑तः पु॒रोहि॒तोऽसि॑, (ऋ० १/४४/१०)। अत्र अतिङन्तात् *पुरोहित*–शब्दात् परस्य *असि॒* इति तिङन्तस्य निघातो न।

---

३३. ननु A

३४. भवतीति A, B

आमन्त्रितपदे उदाहरणम्–

(संहिता) अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवा: शर्ध: प्र यन्त मारुतोत विष्णो।

(ऋ० ५/४६/२)

(जटा) देवा: शर्द्धः, शर्द्धो देवा:, देवा: शर्द्धः।

अत्र देवा: इत्यामन्त्रितपदम् आद्युदात्तम्। तस्य पदात् परत्वाद् अपादादिस्थितत्वाद्[३५] 'आमन्त्रितस्य च' (८/१/१९) इत्याष्टमिकेन[३६] सूत्रेण सर्वानुदात्तता प्राप्ता, सा न कार्या। किन्तु पदकाले स्थितामाद्युदात्तताम् आदायैव क्रमस्वर: कार्य:।।६।।

इदानीं त्रिक्रमेषु क्वचिन्मध्यपदादिवर्णस्य पदसंहितयोर्भेदस्तत्र कथं पठनीयम् इत्याकांक्षायाम् आह–

मध्यस्वरस्त्रिक्रमे यत्र लुप्यते
व्यावर्त्तने तद्ग्रहणं च सर्वत:।
स्यादन्यथा विग्रहण[३७]–प्रयोजनं
किं वाभिजाते पदनिश्चये तदा।।७।।

---

३५. त्वाद्याम A त्वाच्चाम B

३६. चेत्यष्टाध्यायिकेन, B

३७. विग्रहं A विग्रहणं B

यत्र त्रिक्रमध्यस्वरो, मध्यमपदस्य स्वरः, आदिभूतोऽच्, लुप्यते संहितायाम् अन्यथोत्पद्यते, तत्र विलोमेऽपि सर्वत्र संहितावदेव ग्रहणं कर्त्तव्यं, न तु पदवत्। अन्यथा पदवद्ग्रहणे कृते तेनैव पदनिश्चये जाते विग्रहण[३८]-प्रयोजनं वेष्टनप्रयोजनं[३९] किं स्यात् ? अकिञ्चित्करमित्यर्थः। वा पादपूरणार्थः। संहितावदुक्ते तु पदमकारादि। आकारादि वा। इकारादि वा। एकारादि वा, इति संदेहे एव स्थिते वेष्टनेनैव निर्णयो जायते इति वेष्टनस्य सार्थक्यमिति भावः।। यद्यपीदं 'संदेहदं त्विंगनेन प्रदर्शयेद्' इत्यनेन गतार्थं तथापि उदाहरणबाहुल्यार्थं पुनरत्र विशदीकृतमिति बोध्यम्।

अकारादेरुदाहरणम्–

निराविध्यद् गिरिभ्यो, गिरिभ्यो आविध्यन्निर्निराविध्यद् गिरिभ्यः।

अविध्यद् इत्यविध्यत्।।

(ऋ० ८/७७/६)

तथा द्वितीयम्–

कुरुश्रवणमावृणि राजानं राजानमावृणि कुरुश्रवणं, कुरुश्रवणमावृणि राजानं। कुरुश्रवणमिति कुरुऽश्रवणं। अवृणीत्यवृणि।।

(ऋ० १०/३३/४)

---

३८. विग्रह A·

३९. A drops the words : वेष्टनप्रयोजनं

इकारादेरुदाहरणम्–

परा वीरासो, वीरास: परा, परा वीरास:। वीरास एतन् मर्यासो, मर्यास एतन वीरासो, वीरास एतन् मर्यास:। इतनेतींतन।।

(ऋ० ५/६१/४)

अत्र व्यालिमते व्युत्क्रमे पदवदुच्चारणमिति तेन साकं विरोध उक्त[४०] एव।।७।।

इदानीमपृक्तोकारस्य विशेषमाह–

संधिर्निपातस्य कदापि नोक्त–
स्तथापि पूर्वेण जटासु दृष्ट:।
स्वरा हि सर्वे क्रमवद्विधेया:
कम्पा अपि स्यु: स्वरसंधिजाश्च।।८।।

यद्यपि निपातस्य अपृक्तोकारस्य संधि: कदापि क्वचिदेव परेणाक्षरेण सह नोक्त:, बहुषु स्थलेषु तु पूर्वेण परेण च साकमुक्त एवेत्याभिप्राय:। शौनकेनेति विशेष:। तथापि जटायां पूर्वेण पूर्वाक्षरेण सह संधिर्दृष्ट:। न परेणेत्याशय:। पूर्वाचार्यैरिति शेष:।

---

४०. Missing in A

नोक्त इत्यत्रोदाहरणम्-

प्रत्युं अदर्श्यायुती। अभूदु भा उं अंशवें।

उक्त इत्यत्रोदाहरणम्-

अभूर्वौक्षीः। अवेद्विन्द्र जल्गुलः।

तथा च प्रातिशाख्यम्-'आर्ष्यामेव संध्ययकारपूर्वो विवृतेश्च प्रत्ययः सन्नुकार' (ऋ० प्रा० २/५६) इति।

जटायामुदाहरणम्-

अभुंत्स्यु प्र, प्रो अभुत्स्यभुंत्स्यु प्र।।

एवं पूर्वेण सह वर्णसंधीन् विधाय वर्णसंधिवद् वचनं विना स्वरसंधिरपि न भविष्यतीत्याशङ्क्य आह-स्वरा इति। अत्र सर्वे स्वरा क्रमवदेव विधेयाः। एवं मतभेदेन सर्वत्र कम्पान्यथाभावमाशङ्क्य तं विधत्ते-कम्पा इति। कम्पा अपि क्रमवदेव भवन्ति। न तेषु कोऽपि विकारः कार्य इत्यर्थः

केचिद् उदात्तस्वरितोदये सत्यपि स्वरितस्य कम्पं न कुर्वन्ति। 'एषु कम्पो न कर्त्तव्यः सत्युच्चस्वरितोदय' इति वचनात्। तथा केचिद् विनोच्चस्वरितोदयमपि कम्पं कुर्वन्ति। 'एषु

कम्पः प्रकर्त्तव्यो विनोच्चस्वरितोदय' इति वचनाच्च। तन्मतं नादरणीयमिति भावः। उदाहरणम्- *अभु॑त्स्यु प्र प्रो।* इत्यत्र प्रोपसर्गस्याकार उदात्तः अग्रे उकारोऽनुदात्तः। उभयोर्योगे 'उदात्तवत्येकीभाव' (ऋ०प्रा० ३/११) इत्यनेन उदात्तो जातः। कम्पोदाहरणम्-

(जात्यः) क्वं वो, व॒ः क्व१॒, क्वं वः।

द्वितीयं (मित्रातना न र०)* न रथ्या॑ र॒थ्या३॒ न, न रथ्या।

(अभिनिहितः) अ॒स्मिन्य॒ज्ञे यज्ञे३॑स्मिन॒स्मिन्य॒ज्ञे।

य॒ज्ञें॒ऽदाभ्यादाभ्या य॒ज्ञें य॒ज्ञेंऽदाभ्या।

द्वितीयं श॒तचंक्रं यो यः श॒तचंक्रं श॒तचंक्रं॒ यः।

श॒तचंक्र॒मिति श॒तऽचंक्रम्।

यो३॑ह्यो३॒ ह्यो३॑यो यो३॑ह्यः।

(क्षैप्रः) (युवां हव्या०)* ह॒व्याभ्यं१॒भि ह॒व्या[४१] ह॒व्याभि।

अभ्या३॑यव आ॒यवो॒भ्यं१॒भ्या३॒यवः।

---

* Continuation from before.

४१. Missing in B

द्वितीयं (घृषुः श्येनाय श्ये०) श्येनाय कृत्वने कृत्वने श्येनाय श्येनाय कृत्वने। कृत्वने आस्वाइंसु कृत्वने कृत्वनआसु।

(प्रश्लिष्टः) अभीइंदमिदमभ्यं१भीइंदम्। इदमेकमेक-मदमिदमेकम्।

एवमन्यान्यपि बोध्यानि।

अत्र निपातशब्देनापृक्तोकार एव ग्राह्यः। [४२]न तथाभूत आकारः, तस्योपसर्गसंज्ञात्वेन निपातसंज्ञाया अभावात्। अत्र उपसर्गभिन्नानामेव निपात-संज्ञा[४३]दर्शनात्। तथा च प्रातिशाख्यम्-*उपसर्गा विंशतिरर्थवाचकाः। सहेतराभ्यामितरे निपाता* (ऋ० प्रा० १२/२०) इति। एवं तथाभूतानामपि चादीनां चान्यतमस्य ग्रहणम्। शास्त्रान्तरे एतस्यैव प्रकृतिभावदर्शनात् व्यळिना सह संवादाच्च। तथा च व्याळिः -

त्र्यक्षरान्ते प्रगृह्याणामुकारामन्त्रितस्य च।

विलोमे पदसंधौ तु प्रगृह्यत्वं न विद्यते[४४] ।इति।।

(विकृतिवल्ली, श्लो० १०)

---

४२. A adds a क्व before न which seems to be redundant.

४३. Omitted in A.

४४. विन्दते A

तन्मते यथाप्राप्तिसंधिरेव भवति। उदाहरणम् – इ॒दमु॒ त्यत्त्यद्वि॒दमि॒दमु॒त्यत्।

अस्मन्मते तु – इ॒दमु॒ त्यत्त्यदु इ॒दमि॒दमु॒त्यत् इति।।८।।

इदानीं गलितपदविषये जटापठनप्रकारमाह–

अर्द्धर्चान्त्यं पदमेकं प्रदृश्यते
तदा तदभ्यस्य विरम्य चेङ्गयेत्।
ऋच्येकमेव प्रकटं[४५] पदं भवेत्
परेण साकं परिवर्तनं तदा।।९।।

यात्रर्द्धर्चस्यान्ते एकमेव पदं प्रकटं दृश्यते, ततः पूर्वाणि पदानि गलितानि वर्तन्ते, तत्र[४६] अन्तिममेव पदं द्विरभ्यस्य अवसाय पुनर्वेष्टयेत्। यत्र तु अर्द्धर्चमध्ये एकं पदं प्रकटं दृश्यते ततः पूर्वाणि पराणि च गलितानि, तत्र[४७] परेण अदृष्टेन पदेन सह अभ्यस्य अग्रे गलितेषु क्रमवत् पठेत्।

अयमर्थः–यत्रार्द्धर्चादौ गलितानि पदानि तत्र गलितानि पदानि संहितावत् पठित्वा प्रकटं पदद्वयमतीत्याभ्यसेत्। तत्र यदि प्रकटपदादौ

४५. मेकं प्रकरं A

४६. यत्र A & B

४७. Missing in A

त्रिक्रमयोग्यं पदं, तदापि पूर्ववत् प्रकटपदद्वयमतीत्य अभ्यस्य उत्तरमेव गृह्णीयात्। न पूर्वस्य पुनः प्रत्यादानम्। यत्र तु अर्द्धर्चमध्ये गलितपदानि, तत्रैकं गलितपदमतीत्य अभ्यस्य गलितपदानि संहितावत् सकृत् पठित्वा अग्रे प्रकटपदद्वयमतीत्य अभ्यसेत्। अग्रे प्रकटपदाभावे तु संहितावदेव अर्द्धर्चं समापयेत्।

यत्र तु गलितपदादौ त्रिक्रमयोग्यं पदं, तत्र पदद्वयमतीत्य पूर्ववज्जटां पठित्वा त्रिक्रम[४८]योग्यं पदमारभ्य संहितावत् पठेत्। यत्र तु अर्द्धर्चान्ते एकमेव प्रकटं पदं तत्र पूर्वपदानि संहितावत् पठित्वा अगलितं[४९] पदं द्विरभ्यस्य वेष्टयेत्। यत्र तु अर्द्धर्चमध्ये एकमेव प्रकटं पदं पूर्वाणि पराणि च गलितानि, तत्र पूर्ववत् प्रकटादुत्तरमेकं पदमतीत्य अभ्यसेत्। एतेऽपि सर्वे प्रकाराः सूत्रोक्ता एव। ते संदेहव्युदासार्थं बहुभिरुदाहरणैर्विशदीकृता इति बोध्यम्।

समुदायार्थस्तु–अर्द्धर्चान्त्यमेकं प्रकटं पदं वर्जयित्वा सर्वस्य प्रकटपदजातस्य उत्तरपदेन साकं परिवर्त्तनेन त्रिरावृत्तिः कार्या। अर्द्धर्चान्त्यप्रकटपदस्य तु द्विरावृत्तिरिति। वेष्टनेन तस्याधिका वृत्तिरिति त्वन्यदेतत्। क्रमेणोदाहरणानि–

यच्चिद्धि सत्य सोमपाः सोमपाः सत्य सत्यसोमपाः। इति।। (ऋ० १/२९/१)। अध्वर्यवो यः शतमासहस्रं सहस्रमासहस्रं। सहस्रं भूम्या भूम्याः सहस्रं सहस्रं भूम्याः। इति।। (ऋ०२/१४/७)। सुदासे दस्रा दस्रा सुदासे सुदासे दस्रा। सुदास इति सुऽदासे। दस्रा वसु विभ्रता रथे पृक्षो वहतं वहतं पृक्षः पृक्षो वहतं।

---

४८. विक्रमं B

४९. गलितं A

(ऋ० १.४७.६)। मती योज योज मती मती योज। योजान्विन्द्र[५०] ते हरीं। इति।। (ऋ० १/८२/२)। आनश आ सर्वतातिं सर्वतातिमानश आनश आ सर्वतातिं। आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे (ऋ० १०/१००/२)। यन्नासत्या परावति यद्वास्थो अध्यम्बरेम्बरे। अम्बर इत्यम्बरे। इति।। (ऋ० ८/८/१४)। उदुष्य देवः सविता ययाम हिरण्ययीं हिरण्ययीं ययाम ययाम हिरण्ययीम् हिरण्ययीममतिं यामशिश्रेत् इति।। (ऋ० ७/३८/१)।

यत्रार्द्धर्चमध्ये अन्ते च एकं प्रकटं पदं तस्योदाहरणम्-

ईयुषीणामुपमा शश्वतीनामायतीनां प्रथमा प्रथमायतीनामायतीनां प्रथमा।

आयतीनामित्याऽयतीनां। प्रथमोषा व्यद्यौदद्यौत्। अद्यौदित्यद्यौत्। इति।।

संहितायां 'सजोषसा उषसा सूर्येण चादित्यैर्यातमश्विना' (८/३५/१३) इत्यत्र चकारोत्तराकारस्योदात्तत्वं तु पूर्वस्मात् 'चेषं नो वोळ्हमश्विना' (ऋ० ८/३५/५) इत्यत एति(आ-इति)पदानुवृत्तौ चकारोत्तरमेतिपदप्रश्लेषे। तस्य च समयान्तर्भूतत्वमिति[५१] बोध्यम्। चेति-पदस्योदात्तत्वेन, तद्योगे पूर्वोत्तरस्वरयोरप्युदात्तत्वमिति[५२] भावः।

---

५०. इ for द्र A

५१. त्वेति A

५२. त्वे A, त्वेति B

'आदित्यैर्यात'मित्यस्मिन् पादे[53] चाद्याक्षरे भवेत्। 'पदाध्यायेऽनुदात्तत्वं संहितायामुदात्तता' इति व्याळिवचनाद् (विकृतिवल्ली, १४) वा।

यत्रार्द्धर्चो वा ऋग् वा गलेत् तत्र संहितावदेव पठेत्। अत्र कानि पदानि गलन्ति कानि न गलन्तीति पूर्वैर्बहु विचारितम्। परन्तु सर्वत्र व्यभिचारदर्शनेन तैरप्याम्नायपाठ एवाङ्गीकृतः। स एव अस्माभिरप्यनुसर्त्तव्यः। अतएव शौनकादिभिरप्येतस्य लक्षणं न कृतं, 'समय' इति नाम व्यवस्थापितम्। सम्यक् पदाम्नायेनैव ईयते गम्यते[54] इति समयः। समाम्नायैकगम्यत्वमस्येति[55] यावत्।।९।।

इदानीं संबुद्ध्यन्तस्यौकारस्य व्युत्क्रमे संधिविशेषमाह-

ओकार आमन्त्रितजोऽपि दृष्टः
संधीयमानो ननु संहितायाम्।
स्वरे परेऽकारवर्जं जटाया -
मुपैति सन्धिं न परो विशेषः।।१०।।

ननु इत्यव्ययं[56] निश्चये। आमन्त्रितजः संबुद्ध्यन्त ओकारः संहितायां यथा संधीयमानो दृष्टः तथा जटायामपि अकारवर्जं स्वरे परे संधिमुपैति।

---

५३. पदे A

५४. Omitted in A

५५. A adds च after ति

५६. अन्वयं A

अकारे परे संधिं न प्राप्नोति किन्तु तस्य प्रकृतिभावो भवतीत्यर्थ:। अयमेवामन्त्रितौकारस्य विलोमानुलोमयोर्विशेषो मान्य:। अयं भाव: – संबुद्ध्यन्तौकारस्य अकारादिस्वरे परे यथाप्राप्ति संहितायां संधिर्भवति। यथा–**अत्रा चिन्नो मधोपितोऽरं भक्षाय गम्या:।। अध्वर्यवा तु हि षिञ्च।। इन्दविन्द्राय।। वाय उक्थेभिरित्यादि।** व्युत्क्रमे तु अकारे परे प्रकृतिभाव:।। अन्यस्वरपरे तु संधि:। उदाहरणम्–**इन्दो त्वे त्वे इन्दविन्दो त्वे**[57]। **इन्दो** **इतीन्दो।।** अकारपरे उदाहरणम्–**अध्वर्यो अद्रिभिरद्रिभिरध्वर्यो अध्वर्यो अद्रिभि:। अध्वर्यो इत्यध्वर्यो।।** द्वितीयम्–**अदो पितो पितो अदो१दो पितो।**

नन्विदं सूत्रं त्यक्तुं शक्यम्। व्याकरणेनार्ष इति शब्दव्यतिरिक्तस्वरे परे संबुद्ध्यन्तौकारस्य प्रगृह्यसंज्ञाया अविहितत्वादकारे परे तु 'प्रकृत्यान्त: पादमव्यपरे' (पा० ६/१/११५) इत्यनेन प्रकृतिभावविधानाच्चेष्टसिद्धेरिति चेदत्राहु:। अनेनैतद् ज्ञाप्यते यस्य पदस्य वर्णस्य वा पार्षदेया संज्ञा विहिता सा विलोमेऽपि तस्मात् पदान्नापैति। अनपेता च सा सती पार्षदोक्तमेव फलं लभते, न व्याकरणोक्तम्। ततश्च संबुद्ध्यन्तौकारस्य 'ओकार आमन्त्रितज: प्रगृह्य' (ऋ०प्रा०१/६८) इत्यनेन विहिताया: प्रगृह्यसंज्ञाया: सत्त्वाद् अनार्षे स्वरे परे 'प्रकृत्येति करणादौ प्रगृह्या' (२/५१) इत्यनेन प्रकृतिभावे प्राप्तेऽनेन संधिर्विधीयते।। इतिकरणाद् आवित्यत्र आदिपदेन अनार्षपदानि ग्राह्याणि। इतिकरणस्यादौ वर्तमाना: प्रगृह्या: प्रकृत्या भवन्तीत्यर्थकरणे तु इतिकरणशब्दस्य अनार्षोपलक्षकत्वं बोध्यम्।

---

५७. ते A & B

ननु एवं सिध्यतु विलोमेऽपि पार्षदोक्तसंज्ञा तथापि तत्पफलस्य प्रकृतिभावस्य तु 'प्लुतप्रगृह्या अचि' (पा० ६/१/१२५) इत्यनेन व्याकरणेन सिद्धौ[५८] सत्यां[५९] पार्षदोक्तफलस्वीकारे प्रमाणाभाव इति चेदुच्यते। अत्रापि 'संधिर्निपातस्य[६०] चेति' सूत्रं ज्ञापकं भवति तथाहि–'अपृक्तोकारस्योपसर्गा विंशतिरर्थवाचका: सहेतराभ्यामितरे निपाता' इति पार्षदे निपातसंज्ञा विहिता। तस्य व्याकरणोक्तफले स्वीक्रियमाणे 'निपात एकाजनाङिति (पा० १/१/१४) प्रगृह्यसंज्ञायां सत्यां 'प्लुतप्रगृह्या अचि' (पा० ६/१/१२५) इति प्रकृतिभावेऽप्राप्ते[६१] 'संधिर्निपातस्य' चेत्यनेन प्रकृतिभावविधानस्य वैयर्थ्यं स्यात्। पार्षदोक्तफले स्वीकृते तु पार्षदे निपातस्य प्रगृह्यसंज्ञाया अकरणात् प्रकृतिभावेऽप्राप्ते तद्विधानं संगच्छते। एवम् अपृक्तोकारस्योपसर्गसंज्ञावत्त्वेन प्रगृह्यसंज्ञाया अभावान्न विलोमे प्रकृतिभावशंका। एवं 'न त्वाभीरिव विन्दतीइँ'–इत्यत्र अनुलोमे विलोमे च प्लुत एव। अवसानेऽनुनासिकत्वम्। वेष्टने त्विति परे दीर्घत्वं च। उदाहरणम्–

भीरिंव विन्दती३ विन्दती भीरिंव भीरिंव विन्दती३ँ।

भीरिवेति भी:३ ईव। विन्दतीति विन्दती३ँ।

अत्र प्राञ्चोऽपि त्रिमात्रकम्पस्य यथावसानेऽनुनासिकत्वं न ब्रुवन्ति शाकला:–

---

५८. असिद्धौ (व्यांकरणेनसिद्धौ) A

५९. सत्या B

६०. स्येचेति A

६१. प्राप्ते instead of अप्राप्ते A

अनुनासिकत्वं न वदन्ति कम्पे
त्रिमात्रसंज्ञेऽननुनासिके च।
पठन्ति तस्माद् भीरिव विन्दती३
विन्दती३ भीरिवेति निदर्शनम्।।

अत्र व्यालिमते मात्रत्रयस्यापि[६३] प्रचय: स्वर:। अन्येषां मते द्वे मात्रे प्रचिते। एकान्त्या मात्राऽनुदात्ता। तेन व्यालिमताऽनादरपक्षे[६४] कम्पोऽस्तीत्यत उक्तं त्रिमात्रकं यस्येति। तथा च प्रातिशाख्यम्–

त्रिमात्रयोरुत्तरयोरन्त्यापि प्रचयस्वरे।

मात्रा न्यस्ततरैकेषाम्.....।। इति।। (ऋ०प्रा० ३/२७)

अत्र भाष्यम्। त्रीणि त्रिमात्राण्युक्तानि। तत्र त्रिमात्रयोरुत्तरयो:। अन्त्या मात्रा प्रचयस्वरे वर्तमाना एकेषाम् आचार्याणां मते न्यस्ततरा नीचतरा स्यात्। उ॒परिं स्विदासी३त्। न त्वा॒ भीरिंव विन्दती३ँ। मूलम्–उभे व्याडि: समस्वरे[६५]। (ऋ०प्रा० ३/२८)

---

६२. The word विलोमे is missing in A

६३. मात्रस्यापि A

६४. समाचारे B

६५. समाचरे B

भाष्यम् –

'व्याडिस्त्वाचार्य अन्त्ये मात्रे उभयोस्त्रिमात्रयोरितराभ्यां समस्वरे मन्यते। प्रचितस्वरे इत्यर्थः। उ॒परिं स्विदासी३त्। न त्वा॒ भीरिंव विन्दती३ँ इति।'[६६] एवमु॒धःस्विदासी३दित्यत्रापि विलोमेऽनुलोमे च प्लुतिर्बोध्या। उ॒परिं स्विदासी३दित्यत्र सर्वत्र प्लुतिरन्त्या मात्रायाः पक्षे अनुदात्तता च।

एवं रिफितसंज्ञाया अपि तत्र विहितत्वाद् 'ऊधु॒र्ननोधु॒रूधु॒र्नें'त्यत्र विलोमेऽपि रेफश्रवणमेव। यत्र तूधःशब्दस्य रिफितसंज्ञाया अभावस्तत्र विलोमे रेफस्याप्यभावः, यथा–

समूधु॒ऽऊधु॒ः सं समूधः। ऊधों रोम॒शं रोंम॒शमूधु॒ऽऊधों रोम॒शम्।

न चात्र 'अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि' (पा० ८/२/७०) इति विकल्पः शंक्यः, वक्ष्यमाणरीत्या तत्सूत्राप्रवृत्तेः। एवं–

परिष्य स्य परि परि ष्यः। स्यः सुवानः सुवानः स्यः

स्यः सुवानः। सुवानो अक्षारक्षा सुवानः सुवानो अक्षाः।।

अक्षा॒ इन्दुरिन्दुंरक्षा रक्षा॒इन्दुः। अ॒क्षा॒रित्यंक्षाः।।

---

६६. Omitted in A

अत्राक्षा: शब्दस्यानुदात्तत्वाद् 'अक्षार्विपर्यय' (ऋ० प्रा० १/७९) इत्यनेन रिफितसंज्ञा। तस्या इन्दुशब्दे परे 'नाक्षा इन्दु'रित्यनेन (ऋ० प्रा० ४/४०) निषेध:। तेनेन्दुभिन्नशब्दे परे रेफिसंज्ञाया: सत्त्वाद् विलोमे रेफश्रवणं भवत्येव। विलोमे इन्दुशब्दपरेऽपि रेफिसंज्ञा भवति, तस्यानार्षत्वात्।

उदाहरणम्–

प्र सुवान: सुवान: प्र प्र सुवान:। सुवान इन्दुरिन्दु: सुवान सुवान इन्दु:। इन्दुरक्षारक्षारिन्दुरिन्दुरक्षा:। अक्षा: पवित्रम्०।

एवम् अवर्महो महोवरवर्मह:। अत्र विलोमे रेफश्रवणम्। **तां त्वां त्वां तां तां त्वाम्। त्वामुष उषस्त्वां त्वामुष:। उषर्वसूयव:। वसूयव उष उषर्वसूयव:**। अत्र विलोमे रेफश्रवणाभाव:।

ननु अनयो: को विशेष इति चेच्छृणु। समाम्नाये मह:शब्दात् पूर्वपठितस्याव:शब्दस्य रेफस्य रिफितसंज्ञाया विधानात् 'सर्वोपधस्तु स्वरघोषवत् परो रेफो[६७] रेफी'ति (ऋ० प्रा० ४/२७) रेफो भवति। द्वितीयस्तु तादृशसंज्ञाया अभावाद् 'वसूयव' शब्दे परे एव विधानाद् अन्यपदे परे रेफाभाव इति। यद्यपि सर्वत्र विसर्जनीयस्यैव रेफीति संज्ञा तथापि उपचारात्तद्वतां पदानामपि रेफीति व्यवहार इति बोध्यम्।

नन्वेवमपि 'आमन्त्रितज ओकारोऽकारवर्जं स्वरे परे सन्धिमुपैत्ये'तावता सूत्रेण 'इन्दविन्दो' इत्यादिरूपसिद्धौ सत्यां संहितायां संधीयमानो दृष्ट

---

६७. रेफं A, रेफ B

इति गुरुतरसूत्रं व्यर्थमिति चेत्, सत्यम्। व्यर्थे सति किञ्चिदिष्टं ज्ञापपति। किं तदिष्टम्? उत्तरम्। संहितायां यथा संधीयमानो दृष्टस्तथैव व्युत्क्रमेऽपि भवति। अयं भावः। व्याकरणे वैकल्पिकविधावपि सर्वत्र संहितादृष्टं रूपमेव जटायां स्वीकर्त्तव्यम्, न तु[६८] तद्विपरीतं द्वितीयम्[६९]। तेनास्मिन्नेवोदाहरणे 'इन्दो[७०] इन्दो' इत्यत्र 'एचोऽयवायावः' (पा० ६/१/७८) इत्यनेन अवादेशे[७१], 'लोपःशाकल्यस्ये'ति (पा० ८/३/१९) वैकल्पिके वलोपे प्राप्ते संहिताया 'मोष्ठ्य[७२]योन्योर्भुग्न[७३]मनोष्ठ्ये[७४] 'वकारोऽत्रान्तरा[७५]गम' (ऋ०प्रा०२/३१) इत्यनेन वकारागमस्य विहितत्वाद् व-लोपो न भवति किन्तु विलोमे वकारश्रवणमेव भवति।

एवम्-उ॒भा उं नूनं नूनमु उ॒भा उं नूनम्। अत्र संहितायामोष्ठ्ये वकारागमस्य अविहितत्वेन विलोमे वकारस्य लोप एव। एवमन्यत्रपि बोध्यम्।।

[७६]अत्र सर्वत्र विलोमे व्याकरणस्य छान्दसो विधिर्न प्रवर्तत इति बोध्यम्[७६] अन्यथा सर्वस्यापि पार्षदीयसंधेर्व्याकरणसिद्धत्वेन 'अभिक्रमे क्रमशास्त्रं प्रधानं, स्याद् व्युत्क्रमे व्याकरणं प्रमाणमि'त्यनेन

---

६८. ननु A
६९. विपरीतांयं A
७०. इन्द्रो A
७१. देशो B
७२. ष्ठ्य is missing in A
७३. भग्न A
७४. ष्ठ्ये is missing in A
७५. त्रांनरां A
७६. The whole sentence from अत्र to बोध्यम् is missing in A

अनुलोमविलोमयो: कृताया: संधि-शास्त्रव्यवस्थाया वैयर्थ्यापत्ते:। तेन- **म॒क्षू दे॒ववतो दे॒ववतो म॒क्षु, म॒क्षू देववत:।** इत्यत्र 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणामिति' सूत्रेण (पा० ६/३/१३३) विहिताया मक्षुशब्दस्य या दीर्घता सा विलोमे न भवति। एवम्- **आतु त्वाऽऽतु**[७७]**। तूनों न॒स्तु तू न:।** तथा **नू अ॒न्यत्रा॒न्यत्र नु॒ नू अ॒न्यत्र।** अत्र तु-नु-शब्दयोर्विलोमे दीर्घत्वाभाव:। तथा **सुजाते॒ अश्वसूनृतेऽश्वसू॒नृते॒ सुजाते॒, सुजाते॒ अश्वसूनृते।।** अत्र विलोमे 'प्रकृत्यान्त:पादमव्यपरे' (पा० ६/१/११५) इत्यनेन प्रकृतिभाव: प्राप्त:, स न भवति।

एवम्- **विद्मा हि, हि विद्म, विद्मा हि। च॒क्रा, ज॒रसं ज॒रसं चक्र, च॒क्रा जर॒सम्।** अत्र 'द्व्यचोतस्तिङ' (पा० ६/३/१३५) इति सूत्रेण दीर्घत्वं न भवति। एवमन्यत्रापि बोध्यम्।

न चैवम्- **'ए॒ष स्य स्य ए॒ष ए॒ष स्य:'** इत्यत्र विलोमे सकारद्वयस्य विसर्गद्वयस्य वा श्रवणापत्ति:, 'स्यश्छन्दसी' ति सूत्रेण (पा० ३/१/१३३) लोपाप्रवृत्तेरिति वाच्यम्, 'एष स्य स चे'ति (ऋ० प्रा० २/८) पार्षदे[७८]स्येति विसर्गरहितनिर्देशेन सर्वत्र लोपस्यैव ज्ञापितत्वात्।

एवं- स॒म्राळ॒न्योऽ॒न्य॒: स॒म्राट् स॒म्राळ॒न्य:। स॒म्राळिति सं॒ऽ[७९]**राट्।। अ॒न्य:**[८०] **स्व॒राट् स्व॒राळन्योऽ॒न्य: स्व॒राट्।** अत्र विलोमेऽपि ळकारश्रवणम्। अस्यार्थस्येष्टत्वात् स्वयमेवोदाहरणं दर्शयतीति प्रातिशाख्यभाष्यात्।

---

७७. The two *avagraha* signs have been supplied by the editor for clarity.

७८. पार्षदे B

७९. सम् B

८०. अन्य: स A

एवं- तन्नों न्स्तत्तन्नः। तदिति तत्।। तां त्वां त्वां तां तां त्वाम्। तामिति ताम्।। इत्यादौ पूर्वपदस्य वेष्टनं तु क्रमेऽपि वैकल्पिकम्। तेन क्रमवदध्ययनमत्रापि बोध्यम्। तथा च प्रातिशाख्यम्-[८१]

'अदृष्टवर्णे प्रथमे चोदकः[८२] स्यात् प्रदर्शकः। एतदिष्ट'मिति (ऋ०प्रा० १०/१५)।। इष्टवचनादेव अस्य अनित्यत्वमिति तद्भाष्ये।।१०।।

इदानीम् अनानुपूर्व्य[८३]संहितासु जटापठनप्रकारमाह-

अनानुपूर्व्येण च यत्र संहिता-

पदक्रमाद् व्युत्क्रमः पूर्ववत् क्रमः।

भवेत् प्रकारोऽयमानादिरुत्तमः[८४]

सदा जटाया इति सर्वसंमतम्।।११।।

यत्र पदानामानुपूर्व्येण संहिता नास्ति किन्तु पदक्रमो भिन्नः तत्र व्युत्क्रमे पदस्य क्रमेण पठित्वा पुनः संहितावत् पठेत्। प्रथमं संहितावत् पठनं तु 'क्रमे यथोक्ते......' इत्यनेनैव प्राप्तम्। अयमेव जटाया अनादिरुत्तमः प्रकारो भवति, नान्यः। अनादिरित्यनेन स्वकपोलकल्पना निरस्ता, तदेव विशदयति। इति सर्वसंमतम्। सर्वेषां पूर्वऋषीणां शौनकप्रभृतीनां सम्यक् मतम् इष्टम् इत्यर्थः। पुरुषकल्पितं तु सर्वसंमतं न भवेदिति भावः।

---

८१. This sentence is missing in A

८२. चोदक (चोदकस्यात्)

८३. अनानुपूर्व्यम् A

८४. सत्तमः A

उदाहरणम्–

शुनश्चिच्छेपं निदितं निदितं चिच्छुनः शेपं शुनश्चिच्छेपं निदितं। शुनःशेपमिति शुनःशेपम्। चिदिति चित्।। (निदितं सहस्रात् सहस्रान्निदितं निदितं सहस्रात्)[८५]

द्वितीयम्–

ईयते नरा च शंसं च नराशंसमीयत ईयते नरा च शंसं। नराशंसमिति नराशंसम्। चेति च।। (दैव्यं च च दैव्यं दैव्यं च)[८६]

तृतीयम्–

नरा वा शंसं पूषणं पूषणं वा नराशंसं नरा वा शंसं पूषणम्।

नराशंसमिति नराशंसम्। वेति वा।। (पूषणमगोह्यमगोह्यं पूषणं पूषणमगोह्यम्)[८७]

अत्र त्रीण्येवोदाहरणानि।।

इदानीं जटापाठफलमाह–

इदं जटापाठविधानमुक्तं

महत्तमानुस्मरताऽचलेन।

---

८५. ८६, ८७

The MS `B' continues the illustration to show that the Jaṭāpātha for the following portion takes the normal course.

पठन् जटां कीर्त्तिमुपैत्यमेया-

मन्ते पदं याति परं हि विष्णोः।।१२।।

महत्तमं परमेश्वरमनुस्मरता स्मरणं कुर्वता अचलेन निश्चलेन मया हयग्रीवांचार्येण जटापाठस्य विधानं लक्षणमुक्तम्। 'अचलेन' इत्यनेन स्वस्मिन् भ्रमाभावः सूचितः। 'महत्तमानुस्मरता' इत्यनेन ईश्वरानुग्रहादेव इदं मम अनादिसिद्धं स्फुरितं न तु नवीनं स्वपाण्डित्येन प्रणीतमिति सूचितम्। अन्यथा पौरुषेयग्रन्थस्य फलाजनकत्वाद् अग्रे फलकथनं नैव संगच्छते।

किं फलं? तत्राह। जटां पठन् पुरुष इहलोके अमेयाम् अपरिमेयां कीर्त्तिं यश आप्नोति। अन्ते प्राणवियोगाव्यवहितोत्तरक्षणे पूर्वमेव एतदध्ययनेन पापक्षयसत्त्वात् तत्त्वज्ञानद्वारा विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमेश्वरस्य हीति निश्चयेन परमुत्कृष्टं स्थानं याति गच्छतीत्यर्थः। इतरदेवतापदप्राप्तौ जन्मान्तरशंका स्यात्। व्यापनशीलस्य विष्णोः सर्वोत्कृष्टत्वेन तत्पदप्राप्तौ सत्यां पुनरिहलोके च्युतिर्न भवतीति भावः।

भूवियद्वसुशशाङ्कसंमिते विक्रमार्कनृपतेर्गतेऽब्दके।

चैत्रशुक्लनवमीदिने शुभे ग्रन्थ एष परिपूर्णतामगात्।।१।।

जननमरणदुःखार्तार्ति[८८]विश्रान्तिदात्र्यां

परमसुखविधात्र्यां मन्मथारातिपुर्याम्।

धरणिधरतनूजः श्रीदयाशङ्कराख्यो.

व्यरचयदनवद्यां[८९] दीपिकां सूरिविन्द्याम्।।२।।

---

८८. दुःखनाति A

८९. दलिल्द्यां B

परायातमात्सर्यदोषा: कवीन्द्रा:
कृतिं वीक्ष्य मे सप्रमोदा भवेयु:।
खलाश्चोपहासं विधायाथ बाला
अवाप्यापि सम्यग् जटाया रहस्यम्।।३।।

।। इति श्री व्यावहारिकोपनामक-धरणीधरसूनु[१०]दयाशङ्करेण
कृता जटापटलव्याख्या दीपिका समाप्ता[११]।।



के ब्राह्मणा: खलु ''पंक्तिपावन''संज्ञका:?

जटादिविकृतीनां ये पारायणपरायणा:।
महात्मानो द्विजश्रेष्ठास्ते ज्ञेया: पंक्तिपावना:।।

–कौण्डिन्यशिक्षा

---

१०. सूनुना B

११. समाप्तिमगात् B

परिशिष्टम्

व्याडिप्रणीत'विकृतिवल्ली'गतो

जटापटल:

जटा माला शिखा लेखा (रेखा) ध्वजो दण्डो रथो घन:।
अष्टौ विकृतय: प्रोक्ता: क्रमपूर्वा मनीषिभि:।। १।।

ब्रूयात् क्रमविपर्यासक्रममीदृग्विधां दिशेत्।
जटाख्यां विकृतिं धीमान् विज्ञाय क्रमलक्षणम्।। २।।

अनुलोमविलोमाभ्यां त्रिवारं हि पठेत् क्रमम्।
विलोमे पदवत् संधिरनुलोमे यथाक्रमम्।। ३।।

षत्वं णत्वं च दीर्घत्वं क्रमसन्धौ यदुच्यते।
व्युत्क्रमे तन्न कर्त्तव्यं स्वर-क्षैप्रादिकं भवेत्।। ४।।

विलोमे पदवत् संधिरनानुपूर्व्यसंहिते।
आनुपूर्व्यं क्रमे त्याज्यं व्युत्क्रमं पदवत् पठेत्।। ५ ।।

चतु:क्रमे त्रिक्रमे च तथा पञ्चक्रमेऽपि च।
आद्यन्ताभ्यां त्रिवृन्मध्यं ब्रूयात् क्रमविपर्ययै:।। ६।।

समयादौ क्रमे यद्वत् समयात् परतस्तथा।
जटायां समयादिस्थं शुद्धेन परिवर्तयेत्।। ७।।

